• श्रीश्रीगुरुगौराङ्गौ जयतः •

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे ।

धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेनकथासु यः
नोत्पादयेद्यदि रतिं श्रम एव हि केवलम्

भागवत-पत्रिका

अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सुप्रसीदति ॥

सर्वोत्कृष्ट धर्म है वह जो आत्मा को आनन्द प्रदायक ।
भक्ति अधोक्षज की अहैतुकी विघ्नशून्य अति मंगलदायक ॥

सब धर्मों का श्रेष्ठ रीति से पालन करते जीव निरन्तर ।
किन्तु हरि-कथा-प्रीति न हो, श्रम व्यर्थ सभी, केवल बंधनकर ॥

वर्ष ९ | गौराब्द ४७७, मास—पद्मनाभ १५, वार—गर्भोदशायी
शुक्रवार, ३१ आश्विन, सम्वत् २०२०, १८ अक्तूबर १९६३ | संख्या ५

श्रीश्रीगौराङ्गस्मरणमङ्गल स्तोत्रम्

[श्रीश्रीलठाकुर भक्तिविनोद कृत]

विद्यारूपोद्भवधनजनैर्यानलभ्या नरेण ता चैतन्यप्रभुवरकृपा दैन्यभावादवाप ।
वेधानन्दः कुलियनगरे वक्ष्य भक्तान् प्रपूज्य वन्दे गौरं विमदविदुषां शुद्धभक्त्येकलभ्यम् ॥५२॥

वृन्दारण्येक्षणकपटतो गौड़देशे प्रसूतिं दृष्ट्वा स्नेहाद् यवनकवलात् साग्रजं रूपमेव ।
उद्भूतौड्रं पुनरपि ययौ यः स्वतन्त्रः परात्मा तं गौरांगं स्वजनतरणे हृष्टचित्तं स्मरामि ॥५३॥

संगं हित्वा बहुविधनृणां भक्तमेकं गृहीत्वा यात्रां वृन्दावनहृदमतिर्यश्चकारात्मतन्त्रः ।
सहस्रन्याद्यप्रभृतिकपथून् मादयित्वात्मभक्त्या तं स्वानन्दः पशुमतिहरं गौरचन्द्रं स्मरामि ॥५४॥

वृन्दारण्ये गिरिवननदीग्रामराजीं विलोक्य पूर्वं क्रीड़ास्मरणविवशो भावपुञ्जं मुमोह ।
तस्माद्भूतो व्रजविपिनतश्चालयामास यश्च तं गौरांगं निजजनवशं दीनमूर्तिं स्मरामि ॥५५॥

भावावेशं पथिपरमहोवीक्ष्य तं भाग्यवन्तो म्लेच्छाः केचिच्छुमतिभवलाल्लेभिरे यत् प्रसादम् ।
भक्ताश्चैते च प्रणयवशगा यत् प्रसादाद् बभूवुस्तं गौरांगं जनिमलहरं शुद्धमूर्तिं स्मरामि ॥५६॥

पुष्पे बंगातपनतनया संगमे तीर्थवर्ये रूपं विद्यां पररसमयीं शिक्षयामास यो वै ।
प्रेमाणं गोकुलपतिगतं वल्लभाख्यं बुधश्च तं गौरांगं रसगुरुमणिं शास्त्रमूर्तिं स्मरामि ॥५७॥
काशीक्षेत्रे रसविरहितान् केवलाद्वैतपक्षान् प्रेम्णाप्लाव्य स्वजनकृपया यस्तु रूपाप्रजाय ।
विष्णोर्भक्तिस्मृतिविरचने साधुशक्तिं व्यतारीत् वन्दे गौरं भजनविषये साधकानां गुरुं तम् ॥५८॥
धिक् गौरांगप्रणतिरहितां शुष्कतर्कादिदग्धानित्यारम्यप्रचुरवचनं शाङ्कराणां बभूव ।
न्यासीशानां सदसि महतां यस्य पूजा तदाभूत् गौरांगं तं स्वसुखमथानानन्दमूर्त्तिं स्मरामि ॥५९॥
प्राप्यक्षेत्रं पुनरपि हरिभक्तवर्गं तुतोष रामानन्दप्रमुखसुजनान् सार्वभौमादिकान् यः ।
प्रेमालापैर्हरिरसपरैर्यापयामास वर्षान् तं गौरांगं हरिरसकथास्वादपूर्णं स्मरामि ॥६०॥

पद्यानुवाद—

विद्या धन जन रूप गुन लही न जो नर कोय ।
देवानन्द हूँ दीन, प्रभु करुणा पाई सोय ॥
भक्तन क्षमा कराय प्रभु हरी विप्र को कुष्ट ।
भक्त कृपाते 'प्रभु कृपा, ऽ मन्त्र' भयो सो तुष्ट ॥५२॥
वृन्दा कानन [illegible] गौड़ देश प्रभु आग ।
स्वजन नेह परबस हृदय लखी सची निजमाय ॥
गौड़ देशपति यवनके सेवन अधिक दुखाय ।
कार्य भार शासन कठिन भयतें तजिन सकाय ॥
रूप सनातन भ्रात सों कीने प्रभु उद्धार ।
बन्ध विमोचन प्रेमरस लहो कृपा विस्तार ॥
फिरे तहां ते फेर प्रभु उत्कल पहुँचे आय ।
पुरी निवासी भक्तजन हिये मगन सुख पाय ॥५३॥
लक्ष लक्ष जन संग हैं तजो संग सो नाय ।
इकले वृन्दावन चले बलभद्रहि सें साथ ॥
सिंह व्याघ्र भल्लूक पशु मिलत वन्य पथ माँहि ।
आत्म शक्ति संचार प्रभु श्री हरिनाम कहाँहि ॥५४॥
पूरब लीला थल सकल गिरि वन सरिता कुञ्ज ।
देखे वृन्दा विपिन पशु तरु वल्ली खग पुञ्ज ॥
शोक मोह बाढ्यो सुमर पूरब लीलारंग ।
हँसत रुदत नाचत लुठत नाना भाव तरंग ॥
लौटाये बलभद्र प्रभु भाव विवश तन जान ।
निज जन तज हरि विपिन तज कीनो पुरी प्रयान ॥५५॥
चलत भाव आवेश प्रभु कछु तन की सुध नाँहि ।
देखी सो छवि म्लेछ गन प्रमुदित मारग माँहि ॥
भक्त भये सब यवन जन जपन लगे हरिनाम ।
प्रभु करुणा कछु लखत नहिं जाति बरन कुलकाम ॥५६॥
तीरथराज प्रयागमें गोस्वामी श्रीरूप ।
मिले आय गौरांग सों प्रेम शक्तिके भूप ॥
तिनको रस शिक्षा दई रस गुरु श्रीचैतन्य ।
वल्लभ बुध कों कियो रस शिक्षा दै धन्य ॥५७॥
काशी वासी रस रहित मायावादी लोग ।
श्री प्रभु तिनहू को दियो प्रेम भक्ति को योग ॥
मिले सनातन प्रभु सों कियो वेश संस्कार ।
शिक्षा साधन भक्ति की करन शास्त्र परचार ॥५८॥
काशीके न्यासी सबै ऐसे वचन उचार ।
गौर विमुख जीवन 'करन, लगे' विविध धिक्कार ॥

"गौर वन्दना विमुख जे पड़े तर्क जञ्जाल ।
वृथा जनम जग में मरें बसत नरक चिरकाल"॥
संन्यासिनकी सभामें पूजित श्रीचैतन्य ।
श्रीलप्रकाशानन्द को किये भक्ति दे धन्य ॥५९॥
फिर नीलाचल धाम को श्रीप्रभु यात्रा कीन ।
उत्कलवासी भक्त सब देखत हरख नवीन ॥
रामानन्द प्रमुख जन सार्वभौम आचार्य ।
मगन भये प्रभु संगते कृष्ण भजनके आर्य ॥
भक्तन संग श्रीहरि कथा रस कर कर आलाप ।
नीलाचलमें कछु बरस निवसे श्रीप्रभु आप ॥६०॥

(क्रमशः)

—परलोकगत पं० मधुसूदनदास गोस्वामी कृत

सात्वत और असात्वत

अनादिकालसे ही मनुष्योंकी विभिन्न प्रकारकी प्रकृतिके अनुसार उनकी विभिन्न प्रकारकी रुचियाँ देखी जाती हैं। कुछ व्यक्ति कोमल, स्निग्ध और रम्य स्वभावके होते हैं और कुछ अद्भुत कार्योंमें आग्रहवाले होते हैं। दूसरे प्रकारके लोगोंमें कभी-कभी उग्रता, रसकी अल्पता एवं प्रारम्भिक चेष्टा भी देखी जाती है। तीसरे प्रकारके व्यक्ति भगवत् विरोधी होते हैं। वे भगवानके अस्तित्वको अस्वीकार करते हैं। भगवानके सत्ता उड़ा देनेकी चेष्टामें वे संकल्प और अत्यन्त उग्रताका प्रदर्शन करते हैं। इन तीनों श्रेणियोंके मनुष्योंको सात्वत, राजस और तामस कहा जाता है। सात्वत व्यक्तियोंका राजस और तामस व्यक्तियोंके साथ सदैव भेद होता है। इसलिए स्वभावके भेदसे मनुष्य तीन श्रेणीके हैं। उनकी चित्तवृत्ति, बाहरी क्रियाएँ, और उनके उद्देश्य परस्पर भिन्न होते हैं। इसलिए पथ भी तीन प्रकार के हैं। सात्वत-प्रवृत्तिके व्यक्ति सभी सद्गुणोंके आश्रय स्वरूप भगवान विष्णुके लिए ही सब कुछ किया करते हैं। किन्तु तामस-प्रवृत्तिके व्यक्ति अपने विचारोंकी चंचलताके कारण समन्वय नामके एकत्व-प्रतिपादक मतकी स्थापना करनेकी इच्छासे परस्पर विरुद्ध भावोंका सामञ्जस्य करनेकी चेष्टा करते हैं। किन्तु ऐसे प्रयास व्यर्थ होते हैं। अपने मतकी स्थापना करनेके लिए वे "नैर्गुण्य" नामक विचारकी सृष्टि करते हैं।

सात्वत-समन्वयवादी, राजस-समन्वयवादी, और तामस-समन्वयवादी अपनी-अपनी भिन्न-भिन्न रुचियोंके अनुसार कोई सत्वतनु भगवान श्रीविष्णु की, कोई ब्रह्माकी और कोई रुद्रकी उपासना करते हैं, ऐतिह्यसमूह श्रौत पथकी विभिन्न विचारधाराओंमें वर्त्तमान भेदको दिखलाते हैं। प्रापञ्चिक सृष्टिके रचयिता ब्रह्मा हैं। उन्हें सबका पितामह और संसार प्रवृत्तिके प्रवर्त्तक कहा जाता है। उनका राज्य अण्डाकार होता है। इसलिए जगतको पितामहका अण्ड या "ब्रह्माण्ड" कहा जाता है। सात्वत-मतानुसार जहाँ जड़-परमाणु समूह शुद्ध चेतन-वृत्तिको आच्छादित करते हैं एवं ज्ञेयवस्तु भगवानका अनुसंधान

पानेमें बाधा प्रदान करते हैं, वहीं "परमाणु-समष्टि-पिण्ड" या जड़-ब्रह्माण्ड है। जहाँ वे परमाणु-समूह बाधा नहीं देते और जहाँ शुद्ध चेतन-धर्मका ही उपादेयता है, वहीं ब्रह्माण्डकी सीमासे परे "वैकुंठ" है। जड़-ब्रह्माण्डका अभावयुक्त विचार और वैकुंठ जगतका अखण्ड या भावयुक्त विचार जहाँ पर सम्मिलित हैं, वही "महेशधाम" या "कैलाश" है।

जहाँ तामस-सम्प्रदायके व्यक्ति राजस-गुणका नाश करनेमें तत्पर हैं, वहाँ सात्वत-विचारका कुछ कुछ विपर्यय अवश्य होता है। सात्वत-सम्प्रदायके व्यक्ति नित्य-चिद्वैचित्र्यको स्वीकार करते हैं। इसलिए वे वैष्णव कहलाते हैं। इसके विपरीत तामस-व्यक्ति चिद्वैचित्र्यको स्वीकार नहीं करते। इसलिए शास्त्रोंके उपदेश भी सात्वत, राजस और तामस भेद से तीन प्रकारके हैं। सात्वत, राजस और तामस धर्मोंमें अपनी-अपनी धारणाके अनुकूल अनुष्ठानोंकी अवतारणा की गई है। तामस स्वभावके व्यक्ति इन विभिन्न स्तरोंको एक करनेकी चेष्टा करते हैं। निर्विशेषवाद इसी कुचेष्टाका फल है। सात्वत और तामस दोनों प्रकारके विचारोंके परस्पर विरुद्ध एवं विवाद-युक्त भावोंके समाधानके लिए राजस विचारकी उत्पत्ति है। राजसिक समन्वयवाद बद्ध एवं मुक्त जीवोंकी विचारप्रणालीको पुनः प्रपञ्चोन्मुखी बनाता है। समन्वयवाद सात्वत, राजस और तामस भेदसे त्रिविध होनेके कारण तामसिक प्रवृत्तिका राजसिक व्यक्ति कुछ अंशों तक आदर करते हैं। परन्तु सात्वत-सम्प्रदायके व्यक्ति असात्वत व्यक्तियोंकी विचारधाराका कभी भी अनुमोदन नहीं करते। कालके प्रभावसे कभी राजस प्रवृत्ति प्रबल होकर तामसिक व्यक्तियों को बाधा देती हैं और कभी तामसिक प्रवृत्ति राजस व्यक्तियोंको। इतिहासमें इसके प्रचुर प्रमाण विद्यमान हैं।

सात्वत सम्प्रदायके साथ मतभेद रखकर राजस प्रवृत्तिवाले व्यक्तियोंने भारतमें जो निर्वाणकी तरंगें उठायी थीं, उनमें गौतमशाक्य मुनि, महावीर, नेमी, ऋषभ आदिने अपने अनुगामी व्यक्तियोंके वञ्चनार्थ शान्ति स्थापित करनेके मिस जो मतवाद उठाया था, उन सब मतवादोंने भारतके इतिहासमें बड़ा ही उत्पात मचा दिया था। उनमें भी हम देखते हैं आजीवक-सम्प्रदायने वैदिक कर्मकाण्डका निरादर किया था।

सूर्य और चन्द्रवंशी राजाओंमें नारायण, नृसिंह, ठक्कुर, राय, कर्बुर, सेनापति, हाजरा आदि नाना उपाधियोंसे युक्त विभिन्न जातियोंका उल्लेख मिलता है। यह प्राचीन सात्वत हंस सम्प्रदायके प्रतिकूल मतवाद है।

सात्वत-सम्प्रदायके साथ राजस सम्प्रदायका संघर्ष होनेके कारण विद्धवैष्णव, शैव, शाक्त, गाणपत्य और सौर—ये पञ्चोपासक अपने-अपने विचारों का संरक्षण करते हुए सात्वत-सम्प्रदायके मिश्रभाव का प्रवर्त्तन करते हैं। इसलिए सात्वत-सम्प्रदायका विद्धत्व अन्यान्य चारों सम्प्रदायोंके विद्धत्वके समान ही है। इन तामस सम्प्रदायोंकी धारणाको दूर करने के लिए श्रीविष्णुस्वामी, श्रीरामानुजाचार्य, श्रीनिम्बभास्कराचार्य एवं श्रीमन्मध्वाचार्यने सात्वत वासुदेव-नारायणोपासक ऐकान्तिक सम्प्रदायका प्रवर्त्तन किया है। इन चारों आचार्योंने सात्वत-सम्प्रदायको और भी उज्ज्वल कर दिया है।

जगतपावन चारों वैष्णवाचार्योंने बौद्ध-विचार युक्त प्रच्छन्न प्रकृतिवादियोंके साथ मेल रखनेका प्रयास नहीं किया। उन्होंने पञ्चोपासनासे पृथक्‌रूपमें अपने विचारोंका वैशिष्ट्य स्थापित किया है। तामस समन्वय-विचारकी राजस और विद्ध सात्वत सम्प्रदायके विचारोंसे समानता है। इसलिए इन मतोंकी समानता ऐकान्तिक शुद्ध-सात्वत-विचारसे नहीं हो सकती। इसलिए ऐसा कहा जा सकता है कि वैष्णव-धर्मसे ही विकार प्राप्त होने पर नाना प्रकारके वैकारिक राजस धर्म उत्पन्न हुए हैं। साथ ही तामस धर्मके प्रभावसे वे विभिन्न विभागोंमें विभक्त हैं। ऐकान्तिक शुद्ध सात्वतगण पञ्चोपासक वर्णाश्रमधर्मके पालन करनेवाले अद्वैतवादियोंके साथ किसी भी प्रकारसे मित्रता रखना नहीं चाहते। सात्वत-मतके चारों आचार्योंके विचारोंके अनुसार अज्ञ ज्ञानियोंका समन्वयवाद—जिसके अनुसार सभी वस्तुएँ एक ही हैं, प्राकृत विचार मात्र है। अप्राकृत विचारमें हेयत्व न होने के कारण राजस-तामस समन्वयवादियोंके रतिके घृणित विषयोंको माधुर्यमें रखनेकी चेष्टाको उदारताके रूपमें शुद्ध सात्वत या वास्तव सत्यके प्रचारक कभी भी स्वीकार नहीं करते।

जहाँ पर ऐसा भ्रान्त विचार है कि निर्विशेष आधार ही परम कल्याणकारी है, वहाँ वास्तव सत्यको यथार्थ रूपमें जाननेकी चेष्टाका अभाव है। शुष्क-तार्किक अपने कुविचारोंको चरितार्थ करनेके लिए ऐसा अनुमान करते हैं कि सात्वत-धर्मकी उत्पत्ति नास्तिक बौद्ध विचारसे ही हुई है। शाक्यसिंह बुद्धने परमोन्नत नैतिकतामें अवस्थित होकर नारायणकी उपासना तपस्याके माध्यमसे की थी। परन्तु उनके अनुगामी तथ्यको समझ नहीं पानेके कारण अपनेको बुद्धानुगत बौद्ध मानकर भी नित्य-सत्यवस्तु विष्णुकी सेवासे सर्वथा वञ्चित हैं। बौद्धोंका विचार सात्वत-विचारके अनुगत न होनेके कारण वह आचार्योंके मतसे भिन्न है।

आधुनिक कालमें श्रीचैतन्यमहाप्रभुके अनुगत कहने वाले तेरह उपसम्प्रदायी या अपसम्प्रदायी यद्यपि अपनेको गौड़ीय गौर भक्त कहते हैं, तथापि वे श्रीमन्महाप्रभुके आनुगत्यको वास्तविक रूपमें स्वीकार नहीं करते। वे श्रीचैतन्यमहाप्रभुको अपने प्राकृत सहज विचारके द्वारा परतत्त्व न मानकर देशकालपात्रादिगत प्राकृत वस्तु मात्र समझते हैं। इससे शुद्ध सात्वत एकायन हंस सम्प्रदायके भक्तगणके गौड़ीयाभिमानका विपर्यय मात्र होता है। शाक्यसिंह बुद्धकी और उनके पूर्वगुरुवर्गकी नारायणकी उपासनामें जो निष्ठा थी, उसका दर्शन न पानेके कारण बौद्धनामधारी व्यक्तियोंने एकायन पद्धतिका परित्याग कर महायन और हीनायन पद्धतिकी स्थापना की है। इन्हीं दोनों पद्धतियोंको ही प्राकृत सहजियाओंने अपनाया है। वर्तमान समयके प्राकृत साहजिक सम्प्रदाय साहित्य और शुद्ध सात्वत सम्प्रदायके साथ अर्थात् श्रीचैतन्य महाप्रभुके भक्तोंके साथ जो मतभेद प्रकट करते हैं, वह प्राकृत गुणातीत ज्ञानके दर्शनमें क्षुद्रता मात्र है। जो वैकुण्ठ-दर्शनसे पराङ्मुख हैं, उनका विचार बौद्धवाद या प्रच्छन्न बौद्धवादके अन्तर्गत होना अवश्यंभावी है। किन्तु शुद्ध सात्वत व्यक्ति नित्यकाल तक भगवान विष्णुकी ही सेवा किया करते हैं।

प्राकृतिक मूढ़ व्यक्ति अप्राकृत वैकुण्ठ वस्तुका कोई पता नहीं रखते क्योंकि वे सर्वदा इन्द्रिय-तर्पणमें ही रत हैं।

मात्स्य, कौर्म्य, वाराही, नारसिंह, वामनीय, रामात, कार्ष्ण आदि वैष्णव सम्प्रदाय विष्णुके विभिन्न प्रकाशोंके उपासक हैं। इन दस प्रकारके वैष्णव सम्प्रदायमें अप्राकृत वस्तु भगवान् विष्णुके अवतारोंका अनुशीलन होता है। बौद्धवादी जिस आधार पर अपनेको वैष्णव समाजसे पृथक् समझते हैं, वह आधार अस्पष्ट है। सामञ्जस्यवादी अपनेको दस प्रकारके वैष्णव समाजके अन्यतम समझते हैं। जहाँ पर नीतिरहित कामक्रोधादि छः रिपुओंका अभिष्ठान है, वहाँ सात्वत-धर्म विशृङ्खल हो जाता है। वहाँ श्रौतपथके स्थानपर तर्कपथकी ही प्रधानता होती है। बौद्धविचारके अनुसार भगवान विष्णु निःशक्तिक हैं और रूपरहित हैं। इसीलिए बौद्धवादी सात्वत श्रेणीसे च्युत हैं। बौद्ध, जैन आदि धर्मावलम्बीगण भगवत् विश्वास शून्य केवल-नीतिमूलक धर्ममें ही विश्वास रखते हैं। इसलिए वे वास्तव सत्यका आदर नहीं कर पाते। वैकुण्ठ-भगवद्भाव-रहित मायिक विचारमें ही वे विश्वास रखते हैं।

आधुनिक नजरनवादी क्रिश्चियन सम्प्रदाय शुद्ध सात्वत सम्प्रदायमें वर्णित विशुद्ध भगवत् प्रेमको भी तुच्छ जागतिक कार्यके समान ही समझते हैं। उनका विचार प्रायः बौद्ध जैनोंके विचारके समान ही है। इसलिए उनका भी सात्वत—सम्प्रदायमें आदर नहीं है।

प्रापञ्चिक नीति प्रपञ्चके लिए ही है। प्रपञ्च वैकुण्ठसे सर्वदा पृथक् है। किन्तु आधुनिक ईसाई सत्य-प्रतीतिके विपरीत ऐसा विचार रखते हैं कि श्रीचैतन्यमहाप्रभु द्वारा प्रचारित अप्राकृत प्रेम-धर्म जागतिक काम ही है। ऐसा विचार उनकी मूर्खताका ही प्रदर्शन करता है। उन्होंने जागतिक काम सम्बन्धी जिन दृष्टान्तोंका दर्शन किया है, उन्हींका आदर्श ग्रहण कर मेकनिकल, केनेडी आदि ईसाई धर्मावलम्बियोंने शुद्ध सात्वत-धर्ममें कामको ढूँढ़नेका प्रयास किया है। स्वामी दयानन्द-प्रवर्तित और मोलवी राम-मोहन रायके प्रवर्तित धर्मावलम्बी जिस शुद्ध-सात्वत-धर्मग्रहणकी छलना कर अपनी क्षुद्रबुद्धिके द्वारा सात्वत-धर्ममें दोषारोप करते हैं, अवश्य ही किसी दिन वे अपनी भ्रान्तिका संशोधन करेंगे। अगर वे भी अपने विचारोंकी भ्रान्तिको त्यागकर निरपेक्ष होकर सत्यपथ पर चले, तो उन्हें भी शुद्ध-सात्वत सम्प्रदायके अन्तर्भुक्त माना जायगा।

—जगद्गुरु ॐ विष्णुपाद श्रील सरस्वती ठाकुर

मायावादी कौन हैं ?

जो शुद्ध वैष्णव बननेकी इच्छा रखते हैं, उन्हें इस बातका ध्यान रखना चाहिए कि वे मायावादी न हो पड़ें। श्रीचैतन्य महाप्रभु कहते हैं—

> प्रभु कहे—मायावादी कृष्णे अपराधी ।
> 'ब्रह्म', 'आत्मा', 'चैतन्य' कहे निरवधि ॥
> अतएव तार मुखे ना आइसे कृष्णनाम ।
> 'कृष्णनाम','कृष्णस्वरूप'—दुइत 'समान'॥
> 'नाम', 'विग्रह', 'स्वरूप'—तिन एकरूप ।
> तिने 'भेद' नाहि, तिन 'चिदानन्द-रूप' ॥
> देह-देहीर, नाम-नामीर कृष्णे नाहि 'भेद'।
> जीवेर धर्म-नाम-देह-स्वरूपे 'विभेद' ॥
> अतएव कृष्णेर 'नाम', 'देह', 'विलास' ।
> प्राकृतेन्द्रिय-ग्राह्य नहे, हय स्वप्रकाश ॥
> 'कृष्णनाम','कृष्णगुण','कृष्णलीला'वृन्द ।
> कृष्णेर स्वरूप-सम, सब-चिदानन्द ॥
> अतएव कृष्णनाम ना आइसे तार मुखे ।
> मायावादी-गण, जाते बहा-बहिर्मुखे ॥
> (चै. च. म. १७वाँ परिच्छेद १२६-१२५, १४३)

मायावादी स्वरूपतः कृष्णके चरणोंमें अपराधी हैं। उनके मतानुसार कृष्णमूर्ति, कृष्णनाम और कृष्णलीला सभी जड़मय हैं या मायिक हैं। 'मायिक' शब्दका अर्थ है—'मायामिश्रित'। मायावादियोंके मतानुसार शुद्धतत्त्व निराकार और निर्विशेष है। आवश्यकता होने पर वही शुद्धतत्त्व मायाको आश्रय करके राम-कृष्णादि जड़ीय शरीरोंको धारण करता है। शुद्धतत्त्वको ब्रह्म, परमात्मा या चैतन्य भी कहते हैं। राम और कृष्णादि मूर्तियाँ जड़ीय हैं। राम-कृष्णादि नाम भी जड़-शब्दोंके ही अन्तर्गत हैं। राम-कृष्ण आदिके विलास भी जड़ाश्रित हैं। उनके मतानुसार जीव और राम-कृष्णादिमें भेद यह है कि जीव कर्मके अधीन या गुणोंके अधीन जड़ शरीर धारण करनेके लिए बाध्य हैं। परन्तु चैतन्य अपनी इच्छानुसार जड़ शरीर धारण कर जगतमें कार्य करते हैं और पुनः उसे त्याग भी करते हैं। अतएव राम-कृष्णादिके नाम, स्वरूप और लीला—सब कुछ मायिक हैं। साधक जब तक ज्ञान प्राप्त नहीं करते, तब तक राम-कृष्णादिकी उपासना करेंगे। ज्ञान प्राप्त होने पर ब्रह्म, परमात्मा और चैतन्य—केवल इन्हींका जप करेंगे। उस अवस्थामें राम-कृष्णरूप जड़ीय नाम और जड़ीय ध्यानकी आवश्यकता नहीं होती।

इससे यह स्पष्ट है कि मायावादी राम-कृष्णादि भगवत्-स्वरूपोंको शुद्धतत्त्व न मानकर उनकी अपेक्षा हेय समझते हैं। इसीलिए मायावादी कृष्ण-अपराधी हैं। मायावादियोंके मुखसे जो कृष्णनामका उच्चारण होता है, वह कृष्णनाम नहीं है। वह तो कृष्णनामका प्रतिबिम्ब आभास मात्र है। अतएव उसका उच्चारण करके भी मायावादी नामापराधी हैं।

वास्तवमें कृष्णनाम क्या है—उसे कहा जा रहा है। कृष्णनाम, कृष्णस्वरूप और कृष्णविग्रह—तीनों

एक ही तत्त्व हैं। अर्थात् ये तीनों ही सच्चिदानन्द-स्वरूप हैं। ये तीनों ही जड़ातीत, मायातीत और शुद्धतत्त्व हैं। कृष्ण विग्रहकी कान्ति ही विस्तृत होकर ब्रह्मके रूपमें प्रतिभात होती है। मायावादी इस कृष्णकी अङ्गकान्ति रूप ब्रह्मकी ही खोज करते हैं। कृष्णनामका निर्विशेष नामान्तर ही ब्रह्म, आत्मा या चैतन्य है, अर्थात् कृष्णकी अङ्गकान्तिका नाम ही ब्रह्म, आत्मा या चैतन्य है। श्रीकृष्णस्वरूपका एक अंश ही परमात्मा है। मायावादियोंका यह दोष है कि वे यह नहीं जानते कि शुद्धतत्त्व और कृष्णतत्त्व अभिन्न हैं। बद्धजीवका नाम, देह और जीवरूप देही पृथक्-पृथक् हैं। बद्धजीवका नाम और कृष्णदास रूप सिद्ध नाम दोनों भिन्न-भिन्न हैं। क्योंकि बद्ध-जीवोंमें एक सिद्धतत्त्व और एक दूसरा मायिक तत्त्व मिश्रित हैं। कृष्ण-स्वरूपमें ऐसा नहीं है। कृष्णमें ऐसे मिश्रण रहनेकी कोई आवश्यकता भी नहीं है। श्रीकृष्णने चित्शक्तिके द्वारा अपने अतिन्द्रिय नाम रूप और विग्रहको जीवोंके इन्द्रियग्राह्य बनाया है। उन्हें कर्मवश जीवकी भाँति मायाशक्ति अर्थात् जड़-मायाका आश्रय लेनेकी आवश्यकता नहीं होती। वे अपनी योगमायाके द्वारा लोककल्याणकारी विविध प्रकारकी लीलाएँ किया करते हैं। उनकी सभी लीलाएँ उनकी इच्छानुसार योगमायाके द्वारा जड़-जगतमें प्रकटित हैं। यह केवल कृष्णकी अचिन्त्य शक्तिका ही परिचय है। तत्त्वज्ञानरहित निर्बोध जीव कृष्णको अपने ही समान दुर्बल समझकर उनमें जड़शक्तिकी क्रियाको आरोप करते हैं। ऐसे जीव शक्तितत्त्वके विषयमें बिलकुल अनभिज्ञ होनेके कारण वे ऐसा सोचते हैं कि बिना मायाशक्तिकी सहायतासे भगवान जगतमें प्रकट नहीं हो सकते। ऐसे सिद्धान्त को माननेके कारण ही वे मायावादी कहलाते हैं।

वस्तुतः कृष्णनाम, कृष्णदेह और कृष्णविलास नित्य स्वप्रकाश तत्त्व हैं। ये किसी जड़ीय सूर्य, चन्द्र, तारे या अन्य प्रकाशके द्वारा प्रकाशित नहीं है, अथवा जड़ेन्द्रिय चक्षु—कर्णादिके द्वारा उन्हें जाना नहीं जा सकता। मनुष्योंके प्राकृतेन्द्रियोंसे भगवान कृष्णका रूप देखा नहीं जा सकता। उनकी प्राकृत जिह्वा भी कृष्णनामका उच्चारण करनेमें असमर्थ हैं। वे जो देखते या उच्चारण करते हैं, वह सब कुछ जड़तत्त्व ही हैं। परन्तु भक्ति एक इन्द्रिया-तीत व्यापार है। जीवके चिन्मय स्वरूपमें भक्तिका अधिष्ठान है। जब भक्ति बलवती होकर जीवके चक्षु, कर्ण, नासिका और जिह्वाको अपनी शक्तिके द्वारा विभावित करती है तब उन-उन इन्द्रियोंमें चित्शक्ति आविर्भूत होकर चिन्मय इन्द्रियोंको प्रकाशित करती हैं। तभी जिस कृष्ण विग्रहका दर्शन होता है तथा जिस कृष्णनामका उच्चारण होता है, वही विग्रह कृष्णका वास्तविक रूप है और वही नाम वास्तविक कृष्णनाम है। मायावादी शुद्धभक्तिरहित होते हैं। वे प्राकृत ज्ञानके सहारे ब्रह्म आदि तत्त्वोंका व्यतिरेक-रूपसे अनुशीलन करते हैं। इसलिए अन्वय अनु-शीलनद्वारा पायी जानेवाली भक्तिकी कोई भी क्रिया उनमें संभव नहीं है। अतएव मायावादी कृष्ण-बहिर्मुख और कृष्णापराधी हैं।

इससे यही समझना चाहिए कि मायावादी लोग साधनकालमें जो श्रीकृष्ण नामादिका श्रवण-कीर्तनादि करते हैं, वह केवल अपराध ही है। उनके कृष्ण कीर्तनमें शुद्धभक्तोंको अनुमोदन नहीं करना चाहिए।

क्योंकि मायावादियोंके संसर्गसे नामापराध होनेकी संभावना रहती है। यद्यपि मायावादीजन कीर्तनमें अश्रु-पुलक तथा और भी दूसरे सात्त्विक भावोंका प्रकाश करते हैं, तथापि वे भावसमूह शुद्ध सात्त्विक भाव नहीं हैं। बल्कि सात्त्विक भावाभास या प्रतिबिम्ब-लक्षणायुक्त अपराध-विशेष ही होते हैं इसका उदाहरण श्रीभक्तिरसामृतसिन्धुमें दिया गया है—

वाराणसी निवासी कश्चिदयं व्याहरन् हरेश्चरितम्।
यतिगोष्ठ्यामुत्पुलकः सिञ्चति गंडद्वयीमस्त्रैः॥
(भ. र. सि. २.२।४६)

वाराणसीमें निवास करनेवाले संन्यासी प्रसिद्ध मायावादी हैं। केवल वे ही मायावादी हैं, ऐसी बात नहीं। उनके मतोंको माननेवाले सारे पञ्चोपासक गृहस्थ भी मायावादी ही हैं। जिन्होंने मायावाद-मतको स्वीकार किया है, वे तो मायावादी हैं ही; साथ ही वैष्णवमंत्रमें दीक्षित होकर भी मायावादके सिद्धान्तोंको ग्रहण करनेवालोंको भी मायावादी ही कहा जायगा। यहाँ तक कि अपनेको श्रीचैतन्यमहाप्रभुके अन्तरङ्ग कहानेवाले व्यक्तियोंमें भी कई मायावादी हैं। बाउल, दरवेश आदि भी मायावादी ही हैं।

नामाभास दोषयुक्त अधिकांश व्यक्ति मायावादी कहलाने योग्य हैं। उनमेंसे जो मायावादी हैं, वे अपराधी हैं। जो लोग किसी भी 'बाबा'से सम्बन्धित नहीं हैं, तथा शास्त्रीय श्रद्धा प्राप्त न होने पर भी विष्णुमंत्रमें दीक्षित हुए हैं, वे छाया-नामाभासी हैं। छाया नामाभासी ही कनिष्ठ वैष्णव कहलाते हैं। जब तक वे निर्मल भगवद्भावको प्राप्त नहीं करते, तब तक वे 'शुद्धवैष्णव' नहीं कहे जा सकते। मध्यम और उत्तम अधिकारी ही शुद्धवैष्णव हैं। कनिष्ठ अधिकारी छाया-नामाभासी हैं। वे भी साधुसङ्गके प्रभावसे शीघ्र ही मध्यम अधिकारको प्राप्त कर लेते हैं। मायावादी प्रतिबिम्ब-नामाभासी होते हैं। अतएव वे भगवानके चरणोंमें अपराधी हैं। ऐसे व्यक्तियोंके लिए शुद्ध वैष्णव बनना बहुत ही दुष्कर है। वे लोग सात्त्विक भावाभासको जितना भी क्यों न प्रकाश करें, उन्हें कदापि वैष्णव कहा नहीं जा सकता।

मायातीत चिच्छक्तिसम्पन्न भगवत्स्वरूप-विग्रह और नामको एक अखंड तत्त्व जानकर ऐसे तत्त्वमें विश्वासयुक्त वैष्णवोंको भ्रातृवत् स्नेह करते हुए जो वैष्णव-धर्ममें श्रद्धा रखते हैं, उनकी श्रद्धाको ही शास्त्रीय श्रद्धा कहते हैं। जिनकी ऐसी श्रद्धा नहीं हुई है, वे मायावाद-दूषित न होने पर भी शुद्ध-वैष्णव कहे नहीं जा सकते। मायावादमतके माननेवाले सभी अवैष्णव हैं। मायावादियोंके अष्ट-सात्त्विक विकारादि भी व्यर्थ ही हैं। कृष्णनाम करते-करते शुद्धवैष्णवोंकी आँखोंमें थोड़ेसे आँसू ही क्यों न भर आवें, तो वही वांछनीय है।

आजकल इस विषयमें बहुत ही धाँधलेबाजी चल रही है। इसलिए इस विषयको यहाँ पर स्पष्ट रूपसे समझानेकी चेष्टा की गई है। वैष्णवोंके लिए पर-चर्चा अनुचित है, अतएव यहाँ पर-चर्चा नहीं की गई है। शुद्धवैष्णवोंको अपने स्थानमें दृढ़ रखनेके उद्देश्यसे ही इस विषयकी विस्तृत आलोचना की गई है।

—जगद्गुरु ॐविष्णुपाद श्रील भक्तिविनोद ठाकुर।

उपनिषद्-वाणी

(बृहदारण्यक (४)

विदेहराज जनक आसनपर विराजमान थे। उसी समय महर्षि याज्ञवल्क्य उनके समीप उपस्थित हुए। उनसे राजाने पूछा—'याज्ञवल्क्यजी ! आप कैसे पधारे ? पाशुकी इच्छासे अथवा प्रश्न श्रवण करनेके लिए ?'

याज्ञवल्क्य—'राजन् ! दोनोंके लिए ही आया हूँ। आपको किसी आचार्योंने जो बतलाया है, वह हमें सुनाइए।'

जनक—'शिलिनपुत्र जित्वाने मुझसे कहा है कि वाक् ही ब्रह्म है।'

याज्ञवल्क्यने कहा—'जिस प्रकार मातृवान्, पितृवान् कहे, उसी प्रकार शिलिनपुत्रने-वाक् ही ब्रह्म है—ऐसा कहा है। परन्तु क्या उसने उसके आयतन और प्रतिष्ठा भी बतलाए हैं ?'

जनक—'उन्होंने मुझे यह नहीं बतलाया है।'

याज्ञवल्क्य—राजन् ! यह तो एक पादवाला ब्रह्म है। वाक् उसका आयतन है एवं आकाश उसकी प्रतिष्ठा है। उसकी 'प्रज्ञा' नामसे उपासना करनी चाहिए।'

जनक—'प्रज्ञता क्या है ?'

याज्ञवल्क्य—'वाक् ही प्रज्ञता है। वाक्से वस्तु का ज्ञान होता है। ऋक् साम, यजु और अथर्ववेद, इतिहास, पुराण, विद्या, उपनिषद्, श्लोक, सूत्र, अणु-व्याख्यान, व्याख्यान, इष्ट, हुत (आहुति दिया हुआ) आशित (भूखेको अन्नदान करना), पायित (प्यासे को जलदान करना) इहलोक, परलोक एवं सभी भूतोंको वाक्के द्वारा ही जाना जाता है। इसलिए वाक् ही ब्रह्म है। इस प्रकारके उपासनाकारीको वाक् कभी भी त्याग नहीं करता। वह देवता बन जाता है।'

जनक—'याज्ञवल्क्य ! मैं आपको एक हजार ऐसी गौवें दान कर रहा हूँ, जिनसे हाथीके समान बलवान बैल पैदा होंगे।'

याज्ञवल्क्य—'मेरे पिताका यही सिद्धान्त था कि शिष्यको उपदेशके द्वारा कृतार्थ किये बिना उसका धन नहीं लेना चाहिए।'

जनक—'शुल्वपुत्र उदङ्कने मुझसे ऐसा कहा है कि प्राण ही ब्रह्म है।'

याज्ञवल्क्य—वह भी ब्रह्मका एकपादमात्र है। प्राण उसका आयतन (स्थान) है और आकाश उसकी प्रतिष्ठा है। 'प्रिय' रूपसे उसकी उपासना करनी चाहिए। प्राणके लिए ही संसारमें अयाज्यसे याजन कराते हैं, प्रतिग्रह न लेने योग्यसे प्रतिग्रह लेते हैं तथा सब तरह से प्राण-नष्ट ही आशंका करते हैं। अतएव प्राण ही परब्रह्म है।'

जनक—'वृष्णपुत्र बर्कुने मुझसे यह कहा है कि चक्षु ही ब्रह्म है।'

याज्ञवल्क्य—'वह भी ब्रह्मका एकपाद मात्र है। चक्षु उसका आयतन है और आकाश उसकी प्रतिष्ठा है। 'सत्य' रूपसे उसकी उपासना करनी चाहिए। चक्षुके द्वारा देखा जाता है। अतएव चक्षु ही परब्रह्म है।'

जनक—भारद्वाज गोत्रके गर्दभीविपीतने मुझसे कहा है कि श्रोत्र (कर्ण) ही ब्रह्म है।'

याज्ञवल्क्य—'वह ब्रह्मका एकपाद मात्र है। श्रोत्र उसका आयतन है और आकाश उसकी प्रतिष्ठा है। 'अनन्त' रूपसे उसकी उपासना करनी चाहिए। यदि कोई किसी दिशाकी ओर चलता है, तब वह उसका अन्त नहीं पाता। इसलिए उसका नाम 'अनन्त' है। सभी दिशाएँ अनन्त हैं और श्रोत्र भी वही है। इसलिए श्रोत्र ही परम ब्रह्म है।'

जनक—'जबाला-पुत्र सत्यकामने मुझसे कहा है कि मन ही ब्रह्म है।'

याज्ञवल्क्य—वह भी एकपाद ब्रह्म है। मन-हीन व्यक्ति कुछ भी लाभ नहीं कर सकता। मन उसका आयतन है और आकाश उनकी प्रतिष्ठा है। 'आनन्द' रूपसे उसकी उपासना करनी चाहिए। मन ही आनन्दता है। मन ही इच्छा करता है और वह प्राप्त होने पर आनन्द होता है।'

जनक—'विदग्धशाकल्यने मुझे बतलाया है कि हृदय ही ब्रह्म है।'

याज्ञवल्क्य—'वह एकपाद ब्रह्म है। हृदय उसका आयतन है और आकाश उसकी प्रतिष्ठा है। स्थिति रूपसे उसकी उपासना की जाती है। हृदयमें ही स्थिति होती है। हृदयमें ही सभी प्राणियोंका आश्रय है एवं हृदयमें ही प्रतिष्ठा है। सभी भूत हृदयमें प्रतिष्ठित हैं। इसलिए हृदय ही परब्रह्म है।'

तदनन्तर राजर्षि जनकने अपने आसनसे उठकर याज्ञवल्क्यजीके समीप जाकर उन्हें प्रणाम किया और उनसे कहने लगे—'महर्षि! आपको प्रणाम है। मुझे उपदेश कीजिए।'

याज्ञवल्क्य बोले—'जिस प्रकार अधिक दूर जानेके लिए रथ या नौका आदिकी आवश्यकता होती है, उसी प्रकार उपनिषदोंकी सहायतासे उपासना करके तुम समाहित-चित्त हो गये हो। इतना होने पर भी मैं तुमसे यह पूछता हूँ कि मृत्युकालमें इस शरीरको छोड़कर जीव कहाँ जाता है?'

जनक—'भगवन्! मैं यह नहीं जानता। कृपया आप ही मुझे बतलावें।'

याज्ञवल्क्य—'दक्षिण नेत्रमें अवस्थित 'इन्ध' नामक पुरुषको परोक्षरूपसे 'इन्द्र' कहा जाता है। क्योंकि देवता परोक्ष प्रिय हैं। और बायें नेत्रमें अवस्थित पुरुष इन्द्रकी पत्नी विराट (अन्न) है। इन दोनोंका मिलन स्थान 'संस्राव' ही हृदयान्तर्गत आकाश है। हृदयान्तर्गत लाल पिण्ड ही अन्न है। दोनोंका प्रावरण ही यह हृदयान्तर्गत जाल-सी वस्तु है। हृदयसे ऊपरकी ओर गमनशील सभी नाड़ियाँ दोनोंका सञ्चरण स्थान है। हृदयके अभ्यन्तरमें हिता नामकी नाड़ी है, जो केशके सहस्रांशके बराबर पतली है। उन्हींके द्वारा अन्न शरीरमें प्रवेश करता है। इसी स्थूल शरीराभिमानी वैश्वानरसे यह सूक्ष्म शरीराभिमानी तैजस आहार ग्रहण करता है। इस विद्वान

के पूर्वमें पूर्वप्राण, दक्षिणमें दक्षिण प्राण, उत्तरमें उत्तर प्राण, ऊपरमें ऊपरी प्राण, नीचेमें नीचेका प्राण तथा सम्पूर्ण दिशाओंमें सम्पूर्ण प्राण हैं। 'नेति, नेति'—इस तरह वर्णित आत्मा अगृह्य (ग्रहणके अयोग्य) है, अशीर्य (शीर्ण नहीं होता) है, असङ्ग (किसीमें मिल नहीं जाता) है. और अबद्ध (व्यथित या क्षीण नहीं होता) है।'

जनक—'यह पुरुष किस ज्योतिवाला है ?'

याज्ञवल्क्य—'यह आदित्यरूप ज्योतिवाला है। यह आदित्यरूप ज्योतिःसे बैठता है, सब ओर गमन करता है, कर्म करता है और लौट जाता है।'

जनक—'आदित्यके अस्त होनेपर यह पुरुष किस ज्योतिवाला होता है ?'

याज्ञवल्क्य—'चन्द्रमाकी ज्योतिवाला होता है।'

जनक—'चन्द्रके अस्त होने पर क्या होता है ?'

याज्ञवल्क्य—'उस समय यह अग्निरूप ज्योतिवाला होता है।'

जनक—'अग्निके शान्त होने पर यह किसका आश्रय ग्रहण करता है ?'

याज्ञवल्क्य—'वाक्‌का आश्रय लेता है। राजन्! जहाँ आपका हाथ नहीं पहुँचता, वाक् वहाँ भी गमन कर सकता है।'

जनक—'वाक् शान्त होने पर क्या होता है ?'

याज्ञवल्क्य—'आत्मा ही उसकी ज्योति होता है। यह आत्मा प्राणकी बुद्धिवृत्तिके भीतर रहनेवाला विज्ञानमय पुरुष है। आत्मा इस संसारमें एवं परलोकमें दोनों ही ओर विचरण करता है। वह चिन्ता और चेष्टा करता है। वही स्वप्न होकर देहेन्द्रियोंका अतिक्रमण करता है। जन्मके समय शरीरमें आत्मभाव होकर पापादि संश्लिष्ट होते हैं एवं मृत्युके समय उसे त्याग देता है। इस पुरुषके दो स्थान हैं—यह संसार और परलोक; तीसरा स्वप्रस्थान सन्ध्यस्थान है, जिसमें स्थित होकर यह पुरुष दोनों लोकोंका दर्शन करता है। यह पुरुष साधनका आश्रय लेकर यह जान पाता है कि पापका फल दुःख है और पुण्यका फल आनन्द है। सोते समय स्थूल शरीरको अचेतनवत् करके वासनामय देहकी सृष्टि करके अपने ज्योतिःस्वरूपमें अवस्थित होता है। उस समय रथ, रथके घोड़े या गमनमार्ग आदि कुछ भी नहीं रहते। परन्तु वासनामय देह उनकी रचना कर लेती है। उस अवस्थामें आनन्द, मोद, प्रमोद आदि नहीं रहते। परन्तु उनकी रचना हो जाती है। नदी, सरोवर, कुण्डादि न रहने पर भी इन सभीकी रचना करती है। उच्च-नीच भावप्राप्त कई रूपोंकी रचना करती है। कभी स्त्रीके साथ आनन्द, मित्रके साथ हास-परिहास, और कभी भयको प्राप्त होता है। उस समय यह पुरुष स्वयं ज्योतिस्वरूप होता है। यही आत्मा स्वप्नावस्थामें रमण और विहार कर, पाप-पुण्यको देखकर फिरसे अपने जाग्रत स्थानमें पहुँचता है। आत्मा जहाँ जो कुछ भी देखता है, उसमें संश्लिष्ट नहीं होता। क्योंकि आत्माका इन सभी वस्तुओंसे कोई सम्बन्ध नहीं है।

जिस प्रकार एक बड़ी मछली किसी बड़ी नदीके दोनों किनारोंपर विचरण करती है, उसी प्रकार यह स्वप्नस्थान और जाग्रतस्थान—दोनों ओर विचरण करता है। जिस प्रकार पक्षी सब ओर उड़ते-उड़ते

थककर अपने घोंसलेमें आकर विश्राम करती है, वैसे ही यह जीव भी उसी ओर दौड़ता है, जहाँ कोई भ्रमणेच्छा, भोगेच्छा या स्वप्नावस्था न हो। जिस प्रकार व्यावहारिक रूपमें यदि कोई व्यक्ति अपने स्त्रीका आलिंगन करता है, तो उस समय उसे बाहर या भीतरकी किसी भी प्रकारकी चिन्ता नहीं रहती, या उस समय बाहर-भीतर अन्य कुछ भी नहीं देखता, उसी प्रकार प्रज्ञात्मा (सुषुप्ति) आलिङ्गित पुरुष बाहरी या अभ्यन्तर वस्तु कुछ भी नहीं देखता। वह उसका आप्तकाम, आत्मकाम, अकाम और शोक-शून्य रूप है। इस सुषुप्ति-अवस्थामें पिता अपिता हो जाता है, माता अमाता हो जाती है, लोक अलोक हो जाते हैं, देव अदेव हो जाते हैं, और चोर अचोर हो जाता है। इसी तरहसे भ्रूण हत्या करनेवाला अभ्रूणहा, चण्डाल अचण्डाल, पौल्कस अपौल्कस, श्रमण अश्रमण एवं तपस्वी अतपस्वी हो जाते हैं। इस अवस्थामें यह पुरुष पाप-पुण्य रहित होता है और उसका हृदय सम्पूर्ण रूपसे शोकरहित हो जाता है। उस समय दर्शनशक्तिके रहते हुए भी दर्शन नहीं होता। श्रवण-शक्ति, घ्राण-शक्ति, आदिके रहते हुए भी वे अपना कर्म नहीं करतीं। उस समय अन्य किसी पृथक् पदार्थकी अनुभूति नहीं रहती। जाग्रत या स्वप्नावस्थामें दूसरी अनुभूतियाँ लौट आती हैं।

जो मनुष्य सभी मनुष्योंमें सब प्रकारसे भोग-सामग्रियों आदिके द्वारा सम्पन्न होता है, वह जो आनन्द लाभ करता है, वही मनुष्योंका परम आनन्द है। पितृलोकका आनन्द इस आनन्दसे सौगुना अधिक होता है। गन्धर्वलोकमें पितृलोकसे सौगुना अधिक आनन्द मिलता है। एक कर्म देवता (जो कर्मद्वारा देवलोकको प्राप्त करता है) का आनन्द गन्धर्वलोकके आनन्दसे सौगुना अधिक होता है। आजानदेवता (जन्मसिद्ध देवता) का आनन्द एक कर्मदेवताके आनन्दसे सौगुना अधिक होता है। ऐसा ही आनन्द एक निष्काम, निष्पाप श्रोत्रियको भी प्राप्त होता है। प्रजापतिका आनन्द सौ आजान-देवताओंके आनन्दके समान होता है। ब्रह्मलोक-वासियोंका आनन्द प्रजापतियोंके आनन्दका सौगुना होता है और एक निष्पाप, निष्काम श्रोत्रियका भी वही आनन्द है। वही परम आनन्द है।

जिस प्रकार बहुत अधिक बोझ लदा छकड़ा शब्द करता हुआ चलता है, वैसे ही मृत्युसमयमें देही आत्मा ऊपरकी ओर श्वास छोड़ता हुआ शब्द करते हुए जाता है। जैसे पका हुआ फल पेड़से गिर पड़ता है, वैसे ही जीव देहका त्याग करता है। उस समय चक्षु आदि इन्द्रियाँ अपना कार्य नहीं कर पातीं। आत्माके साथ उसका ज्ञान, कर्म और पूर्व-प्रज्ञा सभी गमन करते हैं। जिस प्रकार जोंक अगले तृणको पकड़कर पिछले तृणको छोड़ देता है, वैसे ही देही जीव कर्मफल भोगकर अन्तमें एक देहको त्याग-कर दूसरा देह धारण करता है। अपने कर्मके अनुसार जीव फल भोगता है। पापका आचरणकर पापी शरीर एवं पुण्यका आचरण कर पुण्य शरीर प्राप्त करता है। इस संसारमें आगमन करता है। किन्तु जो अकाम, निष्काम, आप्तकाम और आत्म-काम होता है, उसके प्राणोंका उत्क्रमण नहीं होता। वह व्यक्ति ब्रह्मको प्राप्त करता है।

जब हृदयमें स्थित सम्पूर्ण कामनाओंका सर्वथा नाश हो जाता है, उस समय वह ब्रह्मको प्राप्त करता

है। सर्पोंकी काँचुलीकी तरह उसका शरीर यहाँ पड़ा रह जाता है । धीर ब्रह्मवेत्ता पुरुष इस संसारमें विजयी होकर शरीर त्याग करने पर मोक्षको प्राप्त होते हैं।

जो अविद्याकी (भोग साधक कर्मोंकी) उपासना करते हैं, वे अज्ञान और अन्धकारमें प्रवेश करते हैं और जो मिथ्याज्ञानी हैं (कर्त्तव्य कर्मको त्यागकर अपनेको ज्ञानी होनेका अभिमान करते हैं), वे और भी घोर अन्धकारमें प्रवेश करते हैं । वे अनन्द (असुख) नामक निकृष्ट योनि और नरकरूपी निकृष्ट लोकमें गमन करते हैं एवं दुःख क्लेशरूपी अन्धकारसे आच्छादित होते हैं। यदि जीव अपने आत्मा के स्वरूपको जान सकें, तो उसकी कोई कामना नहीं रह जाती । उसे कोई सन्ताप भी भोगना नहीं पड़ता, वह कृतकृत्य हो जाता है ।

इस शरीरके रहते हुए ही आत्माको जान लिया जाय, तो हम कृतार्थ हो सकते हैं । आत्माको न जानने पर अहित होता है। आत्माको जानने पर अमृतत्व पाया जाता है और न जानने पर दुःख ही प्राप्त होता है ।

जिसके नौ चौ वर्षरूपी चक्र रातदिन रूपी अवयवोंके सहित भ्रमण करता है, उसी सूर्य आदिके ज्योतियोंके ज्योतिःस्वरूप अमृतकी देवगण 'आयु' रूपसे उपासना करते हैं। जिसमें पञ्चजन और आकाश प्रतिष्ठित हैं, वह आत्मा ही अमृत ब्रह्म है। उसी ब्रह्मको जानने पर अमृत हुआ जाता है। जो उसे प्राणोंका प्राण, आँखोंकी आँख, कानोंका कान एवं मनोंका मन जानते हैं, वे उस सनातन ब्रह्मको जानते हैं। आचार्यवान पुरुष मनके द्वारा उनको जान सकते हैं। ऐसा मन विभिन्न धर्मयुक्त नहीं होता। जो व्यक्ति मनसे नाना वस्तुओंको देखता है, वह बार-बार मृत्युको प्राप्त होता है। वह ब्रह्म अप्रमेय, ध्रुव, निर्मल, आकाशसे भी सूक्ष्म, अजन्मा, महान और अविनाशी है। बुद्धिमान व्यक्तिको इस ब्रह्मको जानकर इसीमें अपनी बुद्धि नियुक्त करना चाहिये। बहुत अधिक ध्यान करनेकी चेष्टा व्यर्थ है, क्योंकि उससे वाणीको श्रममात्र होता है।

वह महान आत्मा विज्ञानमय हृदयाकाशमें शयन करता है। वह सबोंका वशकर्त्ता, शासनकर्त्ता और अधिपति है। शुभ कर्मोंसे न तो उसकी वृद्धि होती है और अशुभकर्म से न तो उसका ह्रास ही होता है। वह सर्वेश्वर, सर्वभूताधिप और सर्वपालक है। वह इहलोकको धारण करनेवाले सेतुके समान है। ब्राह्मणगण उन्हें स्वाध्याय, यज्ञ, दान और निष्काम तपसे जाननेकी चेष्टा करते हैं । उनको जाननेवाले व्यक्ति मुनि होते हैं। इस आत्मलोकके इच्छुक व्यक्ति सब कुछ त्याग कर संन्यासी होते हैं। वे पुत्रैषणा, वित्तैषणा, लोकैषणा आदि सबका त्याग कर भिक्षा करते हैं। आत्मज्ञ व्यक्ति पापपुण्यके द्वारा शोक-हर्षादिको प्राप्त नहीं होते। अपने किये कर्मोंकी अनुशोचना भी नहीं करते। अतएव ऐसे ज्ञानी, शान्त दान्त, उपरत, तितिक्षु और समाहित होकर आत्मामें ही आत्माका साक्षात्कार करते हैं। पाप-तापादि उनके निकट नहीं जाते। वे पापरहित, निःसंशय एवं निष्काम ब्राह्मण होते हैं। वह महान आत्मा अजन्मा, अजर, अमर, अमृत और अभय ब्रह्म है। अभय ही ब्रह्म हैं। अपहतपाप्मा, विजर, विमृत्यु, विजिघत्स, विशोक, अपिपास, सत्यकाम और सत्यसंकल्प—इन आठ गुणोंका प्रकाशित होना ही ब्रह्मत्व है।

—त्रिदंडिस्वामी श्रीश्रीमद् भक्तिभूदेव श्रौती महाराज

वृन्दावनकी पृष्ठ-भूमि

(पूर्व प्रकाशित, वर्ष ९ अङ्क ४ पृ० ९२ से आगे)

(ख) भौतिक दृष्टिसे वृन्दावन—पूर्व लेखमें यह स्पष्ट किया जा चुका है कि आध्यात्मिक दृष्टिसे प्रलयादि व्यापारोंका प्रवेश श्रीवृन्दावनमें न होनेके कारण किसी प्रकारका ध्वंश या परिवर्तन भी यहाँ नहीं होने पाया है; किन्तु भौतिक अथवा ऐतिहासिक दृष्टिसे यह वृन्दावन अनेकों बार एक रम्य नगरसे निर्जन वनमें परिणत होकर पुनः एक रमणीक नगरके रूपमें देखा जाता है।

यह घटना प्रसिद्ध है कि देवराज श्रीइन्द्रने क्रुद्ध होकर सर्व प्रथम व्रजमण्डलको ध्वस्त करनेके हेतु ४९ पवनों तथा असंख्य प्रलयकालीन भयावह मेघों द्वारा इस (वृन्दावन) पर आक्रमण किया, किन्तु श्री गिरधरलालने गोवर्द्धन धारणकर इसे बाल-बाल बचा दिया।

श्रीकृष्णावतारके समय गोकुलसे नन्दादि गोपों के वृन्दावन पहुँचने पर श्रीभगवान्‌की इच्छासे विश्वकर्माने एक ही रात्रिमें एक सुरम्य व दर्शनीय नगर का निर्माण यहाँ किया। इस नगर-निर्माणका विस्तृत वर्णन "ब्रह्मवैवर्त-पुराण, कृष्ण जन्म खण्डके १० वें अध्याय" में है। श्रीभागवतमें भी यह प्रसंग इस प्रकार मिलता है कि कंसादि असुरोंके उपद्रवोंसे पीड़ित होकर नन्दादि गोपोंने गोकुल छोड़कर वृन्दावनमें एक नवीन नगर बसाया (द्रष्टव्य श्रीभागवत १०।११।३५)।

जब भगवान् श्रीकृष्ण वृन्दावनसे मथुरा और तत्पश्चात् मथुरासे श्रीद्वारकाजी चले गये तो यह नगर श्रीकृष्ण विहीन होनेके कारण सौन्दर्य-हत हो गया, ऐसी दशामें यहाँकी जनसंख्याका भी कम होना स्वाभाविक ही था। यहाँके कुछ निवासी व्रजको छोड़कर भगवान् श्रीकृष्णके साथ ही द्वारका चले गये, कुछ श्रीकृष्णके विरहमें वैकुण्ठको प्राप्त हो गये और कुछ कृष्ण-शून्य इस वृन्दावनको छोड़कर अपने पशु-पक्षी व परिवारको लेकर अन्यत्र जाकर बस गये। इस प्रकार अवतारकालका समृद्ध वृन्दावन निर्जन वनमें परिणत हो गया।

श्रीराधा-कृष्णकी १०० वर्षकी वियोग-अवधि (देखिये ब्रह्मवैवर्त पुराण ४।३।९६-१०६) की पूर्तिके उपरान्त जब श्री भगवान् कृष्ण अपने गोलोक-गमन के पूर्व द्वारकासे वृन्दावन लौटे और यहाँके भाण्डीर वनमें ठहरे तो इसे रक्षक-विहीन, श्रीहत और उजाड़ देखकर अपनी अमृतभरी योग दृष्टिसे उन्होंने इसे सींचित किया। गोप-गोपिकाओंको यहाँ बसाकर इस वनकी पूर्ण सुरम्यता, मनोहरता और उपयोगिता सुरक्षित करनेका प्रयत्न किया।

> अरक्षकं च व्यस्तञ्च शून्यं वृन्दावनं वनम्।
> योगेनामृत दृष्टया च कृपया च कृपानिधिः॥
> गोपीभिश्च तथा गोपैः परिपूर्णं चकार सः।
> तथा वृन्दावनं चैव सुरम्यं च मनोहरम्॥
>
> (ब्र० वै० ४।१२७।३-४)

द्वापर और कलिके सान्ध्यकालमें श्रीकृष्णकी अप्रकट-लीलाके (गोलोक-गमनके) उपरान्त यह वृन्दावन पुनः उजाड़ हो गया। श्रीद्वारकाजीके जल-मग्न होनेपर श्रीकृष्ण-पौत्र अनिरुद्धन-न्दन (कृष्ण-प्रपौत्र) श्रीवज्रनाभका राज्याभिषेक मथुराके राज-सिंहासन पर महाराज परीक्षित्ने सम्पन्न कराया। उस समय श्रीवज्रनाभजीने परीक्षित्से जनशून्य मथुरा नगरी एवं वृन्दावनादिके लुप्त स्थलोंको पुनः समृद्ध रूपमें देखनेकी इच्छा प्रगट की। कुछ समयके उपरान्त महाराज परीक्षित् एवं नन्दादि गोपोंके कुल-गुरु महर्षि शाण्डिल्यका सहयोग श्रीवज्रनाभजीको प्राप्त हुआ और महर्षि शाण्डिल्यजीने उनसे कहा कि राजन्! वास्तविकी और व्यवहारिकी इन दो प्रकारकी भगवत् लीलाओंमें से केवल व्यवहारिकी लीला ही इस समय लुप्त हुई है। अवतारकालमें जो नित्य परिकर, तल्लिप्सु और देवादि प्रगट हुए थे उन सबकी मनोकामनाओंकी पूर्ति करके देवादिकोंको तो श्रीप्रभुने द्वारका भेज दिया, तल्लिप्सुओंका समावेश अपने नित्य परिकरोंमें कर लिया और नित्य जन यहाँ रहते हुए भी चर्म-चक्षुओंसे दृष्टिगत नहीं हो पा रहे हैं। इसीसे यह समस्त व्रज निर्जन वन सा दिखलाई पड़ रहा है, आप यहाँ रहकर, जन समूह बसाकर इसकी उन्नति करें:—

विधाय स्वीय नित्येषु समावेशित वांस्तदा।
नित्याः सर्वेऽप्य योगेषु दर्शनाभावतां गताः॥
व्यावहारिक लीलास्थास्तत्र यत्राधिकारिणः।
पश्यन्त्यत्रागता स्तस्यान्निर्जनत्वं समं ततः॥
(स्क० पु० भा० माहात्म्य १।३४-३५)

उक्त घटनाके उपरान्त श्रीवज्रनाभजीने इस वृन्दावनमें समारोहपूर्वक एक महान् संकीर्तनोत्सव किया और श्रीउद्धवजीकी आज्ञानुसार एक माह पर्यन्त श्रीमद्भागवत्का पारायण कराकर, श्रीभगवानने जिस स्थल पर जो-जो लीलाएँकी थीं उन्हींके अनुसार उन स्थलोंका नामकरण भी किया। अत्यन्त गोपनीय एवं सर्वोत्तम लीला और रासस्थली होनेके कारण वृन्दावनमें श्रीगोविन्दजी, श्रीगोपीनाथजी, श्रीमदनमोहनजी, श्रीगोपेश्वर महादेवादि श्रीविग्रहों (मूर्तियों) की स्थापना करके इस पावन स्थलीका नाम "वृन्दावन" रक्खा। (द्रष्टव्य स्कन्द पुराण, विष्णु खण्ड, पाठ माहात्म्य २।४-६)

(क्रमशः)

—केवलदत्त तनाडी एम० ए०, ता० रत्न, ता० लंकार

श्रीमन्महाप्रभुकी शिक्षा

दसवां परिच्छेद

शुद्ध भक्ति ही जीवके लिए साधन है

शुद्धभक्तिके स्वरूप, अधिकार, प्रकार और अंग—इनका विवेचन करके जीवके साधनतत्त्वका विचार किया जायगा। शुद्धभक्तिका स्वरूप बतलाते हुए श्रीरूप गोस्वामीने लिखा है—

अन्याभिलाषिता-शून्यं ज्ञान-कर्माद्यनावृतम् ।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा ॥
(भ. र. सि. पू. १.९.)

श्रीचैतन्यचरितामृतमें इसका इस प्रकार अनुवाद है—

अन्य-वांछा, अन्य-पूजा, छाड़ि ज्ञान, कर्म ।
आनुकूल्ये सर्वेन्द्रिये कृष्णानुशीलन ॥

सम्पूर्ण इन्द्रियोंके द्वारा आनुकूल्य-भावके साथ श्रीकृष्णानुशीलनका नाम कृष्णभक्ति है—भक्तिकी उन्नतिकी कामनाके अतिरिक्त अन्यान्य सारी कामनाओंसे रहित होकर, किसी भी दूसरे देवताओंको पृथक् स्वतन्त्र ईश्वर मानकर उनकी पूजा न करते हुए कृष्णैकनिष्ठाके साथ ज्ञान और कर्मका परित्याग करके आनुकूल्य भावसे अपनी सम्पूर्ण इन्द्रियोंद्वारा श्रीकृष्णानुशीलनको उत्तमाभक्ति या शुद्धाभक्ति कहते हैं। कृष्णके प्रति रोचमाना प्रवृत्ति (जो कृष्णको रुचे) का नाम आनुकूल्य है। ब्रह्म या परमात्माका अनुशीलन ज्ञान और योगमार्ग से ही संभव है। अतएव यह अनुशीलन भक्ति नहीं है। यहाँ ज्ञान कहनेका तात्पर्य निर्भेदब्रह्मानुसन्धान और सांख्य-ज्ञानसे समझना चाहिए। जीव, जड़ और भगवान—इनका तत्त्वज्ञान और सम्बन्धज्ञान स्वरूपसिद्धिके लिए नितांत आवश्यक हैं। वे दोनों ज्ञान भक्ति अनुशीलनके अन्तर्गत हैं। 'कर्म'—शब्दसे यहाँ स्मार्तोंके नित्य, नैमित्तिक, काम्य और प्रायश्चित्त आदि भगवद् बहिर्मुख कर्मोंको समझना चाहिए। कृष्ण-परिचर्या आदि कर्मप्राय होने पर भी सेवानिष्ठा-लक्षणयुक्त होनेके कारण कर्मकी संज्ञा नहीं ग्रहण करते अर्थात् वे कर्म नहीं—भक्तिके नामसे ही परिचित होते हैं। भक्तिसे पूर्व जो वैराग्य होता है, वह वैराग्य भी एक प्रकारसे कर्म ही है। श्रीकृष्णके प्रति जीवकी जो अहैतुकी अव्यवहिता (नैरन्तर्यमयी) आत्मवृत्ति होती है, वही भक्ति-लक्षणके द्वारा लक्षित होती है। भक्तिकी साधनावस्थामें चार लक्षण और साध्यावस्थामें दो लक्षण लक्षित होते हैं। (१) अविद्या (पापबीज), पापवासना और पाप तथा अविद्या (पुण्यबीज), पुण्य-वासना और पुण्य—इन सभी प्रकारके क्लेशोंको नष्ट करना ही भक्तिका पहला लक्षण है। (२) भक्ति साधनावस्थामें शुभदायिनी होती है अर्थात् सबके प्रति प्रीति, प्राणीमात्रके प्रति अनुराग, समस्त सद्गुण और शुद्ध सुख प्रदान करना ही उसका दूसरा लक्षण है। यह दूसरा लक्षण

ही "शुभदा" है। (३) मोक्षको तुच्छ करना ही साधन भक्तिका तीसरा लक्षण है। (४) विषय-भोगके प्रति अनासक्त होकर साधन भक्तिके अंगोंका चिरकाल तक अनुष्ठान करने पर भी भक्तिकी प्राप्ति नहीं होती, यह सुदुर्लभता ही साधन भक्तिका चौथा लक्षण है। (क) सान्द्रानन्द-विशेष स्वरूपता और (ख) श्रीकृष्णाकर्षणीत्व ही साध्य भक्तिके दो नित्य लक्षण हैं।

"क्लेशघ्नी शुभदा मोक्षलघुताकृत् सुदुर्लभा।
सान्द्रानन्द-विशेषात्मा श्रीकृष्णाकर्षणी च सा॥"
(भ. र. सि. पू. १ ल. १२)

साध्य-भक्तिमें भी पूर्व प्रदर्शित चारों लक्षण लक्षित होते हैं। साध्य-भक्तिकी प्रथमावस्थाको ही भावभक्ति कहते हैं; भावभक्तिमें पूर्ववाले चारों लक्षण सम्पूर्ण रूपमें लक्षित होते हैं। साध्यभक्तिकी परमावस्था ही प्रेम है। अतएव भक्तिकी साधनावस्थामें साधनभक्ति तथा साध्यावस्थामें भावभक्ति और प्रेमभक्ति होती है। केवल युक्ति द्वारा भक्ति-तत्त्वको जाना नहीं जा सकता। परन्तु अल्पमात्रामें भी रुचि होने पर उसके अनुगत युक्ति होने पर वैसी युक्तिद्वारा भक्ति-तत्त्व स्पष्ट होने में सहायता मिलती है।

इस प्रबन्धमें केवल साधन भक्तिकी विवेचना होगी--

कृति साध्या भवेत् साध्यभावा सा साधनाभिधा।
नित्य सिद्धस्य भावस्य प्राकट्यं हृदि साध्यता॥
(भ. र. सि. पू. वि. २।२)

साधन भक्तिका लक्षण यह है कि साध्यभावरूपा शुद्धाभक्ति जब इन्द्रियोंके द्वारा साध्या होती है, तब उसका नाम "साधन भक्ति" है। साध्यभाव नित्य-सिद्ध है। परन्तु जिसकेद्वारा उसे हृदयमें प्रकट किया जाता है, उसीका नाम साधन है। मूल तत्त्व यह है कि जिस किसी योग्य और अपने मनोनुकूल उपाय-का अवलम्बन करके श्रीकृष्णके प्रति मनोनिवेश किया जा सके, उस उपायको ही साधनभक्ति या उपाय भक्ति कहा जा सकता है। यह साधनभक्ति दो प्रकारकी है-- वैधी और रागानुगा।

वैधी भक्तिका लक्षण यह है कि जब श्रीकृष्णमें स्वाभाविक राग और रुचिद्वारा प्रवृत्त न होकर केवल शास्त्रशासन द्वारा जीव कृष्णभक्तिमें प्रवृत्त होता है, उस समय जो साधन-भक्ति होती है उसे "वैधी"-भक्ति कहते हैं। यह वैधीभक्ति-विधि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र तथा ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासी--सबके लिये शास्त्रोंमें नित्यकृत्य बतलायी गयी है। इसलिये नारद-पंचरात्रमें भी कहते हैं--

सुरर्षे विहिता शास्त्रे हरिमुद्दिश्य या क्रिया।
सैव भक्तिरिति प्रोक्ता तया भक्तिः परा भवेत्॥
(भ. र. सि. पू. वि. २।८ धृत पंचरात्र)

हे सुरर्षे! श्रीहरिके उद्देश्यसे जो सब क्रियाएँ शास्त्रोंमें विहित हैं, उनको ही साधन-भक्ति या उपाय भक्ति कहते हैं; उनके द्वारा पराभक्ति या साध्यभक्ति या उपेयभक्ति लाभ होती है।

इस वैधी भक्तिके तीन प्रकारके अधिकारी हैं--

श्रद्धावान् जन हय भक्ति-अधिकारी।
उत्तम, मध्यम, कनिष्ठ--श्रद्धा अनुसारी॥
(चै. च. म. २२।६४)

श्रद्धा किसे कहते हैं, इसकी श्रीचैतन्यचरितामृत-में बड़ी ही सुन्दर और रूपाङ्गपूर्ण परिभाषा की गयी है—

'श्रद्धा'-शब्दे विश्वास कहे सुदृढ़ निश्चय।
कृष्णे भक्ति कैले सर्वकर्म कृत हय॥
(चै. च. म. २२।६२)

कृष्णभक्तिके बिना जीवोंके उद्धारका और कोई भी दूसरा उपाय नहीं है तथा ज्ञान और कर्मादि चेष्टाएँ भक्तिशून्य होने पर व्यर्थ ही हैं—इस प्रकार दृढ़ निश्चयके साथ जो भक्ति-उन्मुखी चित्तवृत्ति है, उसीको श्रद्धा कहते हैं। यह श्रद्धा जिन व्यक्तियोंमें दृढ़ और अटल है, वे भक्तिके उत्तमाधिकारी हैं। जिनमें कुछ-कुछ दृढ़ है, वे भक्तिके मध्यमाधिकारी हैं। दृढ़ता नहीं है, फिर भी विश्वास प्राय है अथवा विरुद्ध सिद्धान्तोंसे डर होता है—ऐसी श्रद्धा जिनमें है, वे भक्तिके कनिष्ठाधिकारी हैं। कनिष्ठाधिकारी दो प्रकारके होते हैं अर्थात् कर्मज्ञानाधिकार मिश्र और कर्मज्ञानाधिकार शून्य। कर्मज्ञानाधिकार शून्य कनिष्ठाधिकारी साधुसंगमें भजन करते करते क्रमशः उत्तमाधिकारी होंगे। परन्तु दूसरे प्रकारवाले कर्म-ज्ञानाधिकार मिश्र कनिष्ठाधिकारी विशेष कष्टसे और प्रबल साधु-कृपाके द्वारा उन्नत हो सकते हैं। इस विषयमें श्रीरूप गोस्वामीने इस प्रकार कहा है—

"मृदुश्रद्धस्य कचिता स्वल्पा कर्मधिकारिता।"
(भ. र. सि. पू. २।८२)

[मृदु-श्रद्ध अर्थात् जिनकी थोड़ी मात्रामें भी श्रद्धा उदित हुई है, उनकी कर्माधिकारिता भी अल्प ही है अर्थात् कर्मकाण्डमें उनका अधिकार संकुचित हो चुका है।]

ये लोग ही वर्णाश्रमद्वारा तथा कर्मार्पणद्वारा भक्तिका अनुष्ठान करते हैं। इनकी भक्ति भक्ति नहीं, बल्कि भक्त्याभास है। इनका उच्चारित हरिनाम छायानामाभास है। यदि अन्याभिलाषिता रहे, तब उनका उच्चरित नाम प्रतिबिम्ब-नामाभास होता है तथा उच्चारणकारीको कर्मी अथवा ज्ञानी कहा जा सकता है, उन्हें भक्त नहीं कहा जा सकता है। अन्याभिलाषिताशून्य ज्ञानकर्मार्पणकारी कनिष्ठ भक्तजन वैष्णव-प्राय हैं अर्थात् वैष्णवाभास हैं। राय रामानन्द-मिलनके समय जब रामानन्दजी साधनका निर्णय कर रहे हैं, उस समय श्रीमन्महा-प्रभुने जहाँ तक यह कहते रहे कि "यह भी बाह्य है और आगे कहो"—(एई बाह्य, आगे कह आर) वहाँ तक मृदु-श्रद्धालुओंका धर्म समझना चाहिए। तत्पश्चात् जब उन्होंने (श्रीमन्महाप्रभुजीने) कह कहा कि "यह भी है, और आगे कहो।" (एई हय, आगे कह आर), तभी शुद्ध-भक्तिका विषय आया। अतएव दृढ़-श्रद्ध भक्त्याधिकारीका लक्षण इस प्रकार है—

ज्ञाने प्रयासमुदपास्य नमन्त एव
जीवन्ति सन्मुखरितां भवदीयवार्ताम्।
स्थाने स्थिताः श्रुतिगतां तनुवाङ्मनोभि-
र्ये प्रायशोऽजित जितोऽप्यसि तैस्त्रिलोक्याम्॥
(भा० १०।१४।३)

हे भगवान! कर्ममार्गकी बात अलग रहे, ब्रह्मानुसंधानरूप ज्ञानकी चेष्टाको भी छोड़ कर जो भक्तिके अनुकूल स्थानोंमें स्थित रहकर साधुगणके मुखनिःसृत अपने कर्ण-पथमें उपस्थित आपकी लीलाकथाओंको नमस्कारपूर्वक जीवन निर्वाह करते

हैं, आप अजित होने पर भी त्रिलोकमें केवल उनके द्वारा ही आप जित (प्राप्त) होते हैं।*

भक्ति-वासनारूप अत्यधिक सुकृतिके बलसे जीव भक्तिउन्मुखी श्रद्धा लाभ करते हैं। उसे प्राप्त करने पर जड़-विषयोंमें केवलमात्र जीवन-निर्वाहके लिए ही चेष्टा होती है, उनसे वैराग्य नहीं होता।

भुक्ति-मुक्ति-स्पृहा यावत् पिशाची हृदि वर्तते ।
तावद्भक्ति-सुखस्यात्र कथमभ्युदयो भवेत् ॥
(भ. र. सि. पू. वि. २।१६)

हृदयमें भुक्ति और मुक्तिकी कामनारूप पिशाची जब तक निवास करती है, तब तक शुद्ध भक्तिका अभ्युदय नहीं हो सकता। इनमें मुक्तिकी कामना भक्तिकी अत्यन्त विरोधिनी है। सालोक्य, सामिप्य, सारूप्य, सार्ष्टि और सायुज्य—इन पाँच प्रकारकी मुक्तियोंमें सायुज्य मुक्ति अत्यन्त भक्ति विरोधी है। इसलिए कृष्ण भक्त-जन सामुज्यकी तो बात ही क्या, सालोक्यादि अन्य चार प्रकारकी मुक्तियोंकी भी कामना नहीं रखते। यथा—

सालोक्य-सार्ष्टि-सामीप्य-सारूप्यैकत्वमप्युत ।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः ॥
(भा० ३।२९।१३)

वर्णाश्रम-धर्मकी भाँति साधन भक्ति किसी विशेष व्यक्ति या श्रेणीके व्यक्तियोंका अधिकार नहीं है। मानवमात्र ही श्रद्धा उत्पन्न होने पर भक्तिका अधिकारी है, भक्तिके अधिकारीका कर्माधिकार नहीं होता। उनकी विकर्ममें भी रुचि नहीं होती। परन्तु अकस्मात् कोई विकर्म हो भी जाय तो, भक्तिके प्रभावसे वह नष्ट हो जाता है। उसके लिये प्रायश्चित की आवश्यकता नहीं होती। इस विषयमें श्रीमद्-भागवतमें कहा गया है—

स्वपादमूलं भजतः प्रियस्य-
त्यक्तान्यभावस्य हरिः परेशः ।
विकर्म यच्चोत्पतितं कथंचिद्-
धुनोति सर्वं हृदि सन्निविष्टः ॥
(भा० ११।५।४२)

अधिकारके अनुसार कार्य करने या कर्त्तव्यका पालनमें ही समस्त प्रकारके गुण हैं, इसके विपरीत

* इसका तात्पर्य यह है कि इन्द्रियज ज्ञानके सहारे इन्द्रियातीत वस्तुको प्राप्त करनेकी चेष्टाका नाम आरोह-वाद या अर्धीत तर्कपथ है। हे अवाङ्मनोगोचर अजित कृष्ण, जो लोग इन नश्वर इन्द्रियोंद्वारा बाह्य असद् विषयोंके ज्ञानके बल पर प्रतिष्ठित तर्कपथका त्याग करके भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा और करणापाटव—इन चारों दोषोंसे रहित वास्तव वस्तु भगवत्तत्वको भलीभाँति जाननेवाले साधु मुखसे—'मैं श्रवण-योग्य-हेतु श्रद्धापूर्वक कीर्तन श्रवण करूँगा"—ऐसी सेवाबुद्धि लेकर एवं कायमनोवाक्यसे अहंकारका सर्वथा परित्याग कर तुम्हारी कलि-कलुष-नाशिनी भक्ति सिद्धान्त वाणीके श्रवण और कीर्तनमें जीवन-यापन करते हैं, वे त्रिभुवनमें जिस किसी वर्ण या आश्रममें अवस्थित क्यों न रहें परम दुर्ज्ञेय आपको भलीभाँति जानकर प्रेम भक्ति द्वारा वशीभूत करनेमें समर्थ होते हैं।

—प्रभुपाद

अनाधिकार चेष्टा या कार्यमें सब प्रकारके दोष निहित हैं—

स्वे-स्वेऽधिकारे या निष्ठा स गुणः परिकीर्तितः ।
विपर्ययस्तु दोषः स्यादुभयोरेष निर्णयः ॥
(भा ११।२१।२)

ऐसी निष्ठाके साथ वैधी भक्तिका आचरण करने के लिए ही शास्त्रकी आज्ञा है। साधन भक्तिके बहुत से अङ्ग हैं; परन्तु संक्षेपमें वे ६४ हैं। इन ६४ अङ्गों का वर्णन श्रीचैतन्यचरितामृत मध्य २२।११२-२६ में है—

सद्गुरुपदाश्रय, कृष्णदीक्षा और शिक्षा, गुरु-सेवा, साधु-पथावलम्बन, सद्धर्म-जिज्ञासा, कृष्णके लिये भोगत्याग, भक्तितीर्थमें निवास, जीवन निर्वाह के उपयोगी-संग्रह, हरिनामका सम्मान, आँवला और पीपल आदिका गौरव,—ये दस अङ्ग अन्वय-रूपमें प्रारम्भिक अङ्गमात्र हैं। बहिर्मुखसङ्ग-त्याग, अनाधिकारी व्यक्तियोंको शिष्य न करना, बहुआरंभका परित्याग, भक्तिशून्य ग्रन्थोंका पाठ, और भक्ति शास्त्रका कलाभ्यास और व्याख्यावाद - वर्जन, व्यवहारमें अकार्पण्य, शोक आदिके वशीभूत न होना, दूसरे-दूसरे देवताओंकी अवज्ञा न करना, अपने लिये दूसरोंको उद्वेग न देना, सेवा अपराध और नामापराधका वर्जन करना, और कृष्णभक्तोंकी निन्दा न सुनना—इन दस अङ्गोंका व्यतिरेकरूपसे साधन करना चाहिये। गुर्वाश्रय, दीक्षा-शिक्षा और गुरु-सेवा—ये तीन अङ्ग इनमें सर्वप्रधान हैं। वैष्णव-चिह्न-धारण, हरिनामाक्षर-धारण, निर्माल्य आदि ग्रहण, कृष्णके आगे नृत्य, दण्डवन्नति, अभ्युत्थान, अनुव्रज्या, भगवत् स्थानोंमें गमन, परिक्रमा, अर्चन, परिचर्या, गीत, संकीर्तन, जप, विज्ञप्ति, स्तवपाठ, नैवेद्यास्वादन, पाद्यास्वादन, धूप-माल्यादिकी सौरभ ग्रहण, श्रीमूर्त्तिका स्पर्श करना, दर्शन करना, आरात्रिक, उत्सव आदि दर्शन, कृपादृष्टि ग्रहण और प्रिय वस्तुओंका उपहार कृष्णको देना, कृष्णार्थेअखिल चेष्टा, सर्वदा शरणापत्ति, तदीय तुलसी, भागवत, मथुरा और वैष्णवजनकी सेवा, यथाशक्ति सत्सङ्गमें महोत्सव, कार्त्तिक व्रत, जन्म-महोत्सव, श्रीमूर्तिसेवा, रसिक-जनोंके साथ श्रीमद्भागवतका अर्थ-आस्वादन, स्वजातीय - आशयस्निग्ध (अपनेसे श्रेष्ठ) वैष्णवका संग, नाम-संकीर्तन, और मथुरा-वास। अन्तिम पाँच अङ्गोंका थोड़ासा भी सम्बन्ध होनेपर भावभक्तिका उदय होता है। इन अङ्गोंमेंसे कुछ शरीर सम्बन्धी, कुछ इन्द्रिय सम्बन्धी और कुछ अन्तःकरण सम्बन्धीय उपासना हैं। मूल तत्त्व यह है कि शरीर, इन्द्रिय और मनको कृष्णभक्तिके वशीभूत करनेके उपायको वैधी साधन भक्ति कहा जा सकता है। कोई-कोई इन साधनोंमें से किसी एक अङ्गका साधन करके ही सिद्ध होते हैं। कोई-कोई अनेक अङ्गोंका भी एक ही साथ साधन करते हैं। शास्त्रोंमें इन साधनोंके भोग-मोक्ष आदि क्षुद्र-क्षुद्र फलोंका जो उल्लेख है, वह केवल बहिर्मुख लोगोंको लोभ दिखा-कर भक्तिमें प्रवृत्त करानेके लिये है। वास्तवमें साधन भक्तिके सभी अङ्गोंका मुख्यफल एक ही है—भिद् विषयिनी रति।

उपर्युक्त अङ्ग चौसठ भागोंमें विभक्त होने पर भी स्वरूपतः वे केवल नौ अङ्ग ही हैं। जैसे—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ।
अर्चनं, वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥
इति पुंसार्पिता विष्णौ भक्तिश्चेन्नवलक्षणा ।
क्रियेत भगवत्यद्धा तन्मन्येऽधीतमुत्तमम् ॥
(भा० ७।५।२३-२४)

श्रीचैतन्यचरितामृतमें भी कहा गया है—

श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पूजन, वन्दन ।
परिचर्या, दास्य, सख्य, आत्मनिवेदन ॥

[जो स्वयं भगवान श्रीविष्णुके चरणोंमें आत्म-समर्पणपूर्वक व्यवधानरहित होकर अर्थात् ज्ञान कर्म और योग आदिसे रहित होकर इस नौलक्षणा (नवधा) भक्तिका अनुष्ठान करते हैं, उन्होंने ही शास्त्रोंका भलीभाँति अध्ययन किया है अर्थात् उनका ही शास्त्रानुशीलन सार्थक है ।]

"भक्ति तत्त्वको जाननेवाले भक्तजन कर्मको किसी भी अवस्थामें भक्तिका अङ्ग नहीं बतलाते । कर्मका कर्मत्व नष्ट नहीं होने तक अर्थात् भक्तित्वका स्वरूप और भक्तिनामकी प्राप्ति नहीं होनेसे उसे भक्ति नहीं कहा जा सकता है । कर्मका स्वरूप परिवर्तन होने से पहले तीन अवस्थाएँ होती हैं—निष्काम अवस्था कर्मार्पण-अवस्था, और कर्म योगावस्था ।इन तीनों अवस्थाओंको पार करने पर कर्मका स्वरूप परिवर्तन होकर परिचर्यारूप भक्ति हो पड़ती है । अतएव—

तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता ।
मत्कथा-श्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते ॥
(भा० ११।२०।९)

कर्ममें निर्वेद होने पर कर्मका स्वरूप बदलकर ज्ञान स्वरूप हो पड़ता है । जब कृष्णकी लीला कथाओं में श्रद्धा होती है, तब कर्मका स्वरूप बदल कर भक्ति का स्वरूप हो पड़ता है । निष्काम कर्म और भगवदर्पित कर्मके विषयमें श्रीनारदजीने कहा है—

नैष्कर्म्यमप्यच्युत-भाव-वर्जितं,
न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम् ।
कुतः पुनः शश्वदभद्रमीश्वरे,
न चार्पितं कर्म यदप्यकारणम् ॥
(भा० १।५।१२)

अच्युत अर्थात् भगवान कृष्णकी भक्तिसे रहित नैष्कर्म्यरूप ब्रह्मज्ञान भी जब शोभा नहीं पाता, तब स्वभावसे ही अभद्र अर्थात् अमंगलप्रद जो कर्म है है, वह निष्काम होने पर भी जब तक ईश्वरार्पित नहीं होता, तबतक कैसे शोभा पा सकता है ?

भगवदर्पित कर्म किस प्रकार भक्ति स्वरूपमें बदल जाता हैं, इस विषयमें श्रीनारद गोस्वामी कहते हैं—

आमयो यश्च भूतानां जायते येन सुव्रत ।
तदेव ह्यामयं द्रव्यं न पुनाति चिकित्सितम् ॥
एवं नृणां क्रियायोगाः सर्वे संसृति-हेतवः ।
स एवात्म-विनाशाय कल्पन्ते कल्पिता परे ॥
यदत्र क्रियते कर्म भगवत्-परितोषणम् ।
ज्ञानं यत्तदधीनं हि भक्तियोग-समन्वितम् ॥
कुर्वाणा यत्र कर्माणि भगवच्छिक्षयाऽसकृत् ।
गृणन्ति गुणनामानि कृष्णस्यानुस्मरन्ति च ॥
(भा० १।५।३३-३६)

जिस पदार्थके सेवनसे जिस रोगकी उत्पत्ति होती

है, वही पदार्थ उस रोगको दूर करनेके लिये प्रयोग करनेसे वह रोग कदापि दूर नहीं किया जा सकता। सभी कर्म मनुष्योंके संसारके हेतु हैं। भले ही वे कर्म निष्काम हों अथवा ईश्वरार्पित ही क्यों न हों, वे भव-रोगको दूर करनेमें समर्थ नहीं होते। कर्मका प्रयोग केवल जीवन यात्रा निर्वाहके लिये किये जाने पर ही पीछे अर्थात् उन्हें भक्ति-स्वरूप मानने पर ही उन कर्मोंका कर्मत्व नष्ट होता है। भगवत् परितोषणोपयोगी कर्मोंको ग्रहण करनेसे तथा भक्तिके अधीन सम्बन्ध ज्ञानको स्वीकार करनेसे सभी कर्म अपना कर्मत्व छोड़कर भक्तियोग हो पड़ते हैं। उस भक्ति-योगके अन्तर्गत कृष्ण परितोषक कर्म करते हुए भगवत्-शिक्षा लाभ कर निरन्तर श्रीकृष्णके नाम, रूप, गुण और उनकी लीला कथाओंका स्मरण और कीर्तन करना ही सभी शास्त्रोंका अभिधेय है।

यद्यपि भक्ति राज्यमें प्रवेशके लिये ज्ञान और वैराग्यकी थोड़ी सी उपयोगिता स्वीकृत तो है, परन्तु वे भक्तिके साक्षात् अङ्ग नहीं हैं। यदि वे दोनों तनिक भी प्रबल हो जाते हैं, तो चित्तको कठोर बना देते हैं, जिसे सुकोल-स्वभाववाली भक्ति पसन्द नहीं करती। चित्त थोड़ा भी कठोर होनेपर वहाँ भक्ति देवीका आविर्भाव नहीं होता। इसलिये सम्बन्ध-तत्त्वको जाग्रत करानेवाली भक्तिकी आलोचना ही भक्तिके आविर्भावका एकमात्र कारण है। अनासक्त होकर भक्तिके अनुकूल रूपमें कृष्णसे सम्बन्ध स्थापित करके यथायोग्य (जीवननिर्वाहोपयोगी) विषयोंका भोग करनेसे ही युक्त वैराग्य होता है। जैसे—

> अनासक्तस्य विषयान् यथार्हमुपञ्जतः।
> निर्बन्धः कृष्णसम्बन्धे युक्तं वैराग्यमुच्यते ॥
> (भ० र० सि० पू० २।१२५)

साधन भक्तोंका वही कर्त्तव्य है। कर्म, आध्यात्मिक ज्ञान और फल्गु-वैराग्य—ये कभी भी भक्तिके अङ्ग नहीं होते। बल्कि सभी भक्तिके लिए बाधा स्वरूप हैं। धन और शिष्यादिके लिए जो भक्ति होती है, वह भी शुद्ध भक्ति नहीं, बल्कि भक्ति-बाधक ही है। विवेक आदि भक्तिके अधिकारियोंके गुण तो हैं, परन्तु भक्तिके अङ्ग नहीं हैं। यम, नियम, अहिंसा और शौचादि—ये भी भक्तिके अङ्ग तो नहीं है, भक्तिके अङ्गोंके अधीन रहने पर शोभा पाते हैं; अन्यथा हेय हैं।

> ज्ञान-वैराग्यादि भक्तिर कभु नहे 'अङ्ग'।
> अहिंसा-यम-नियमादि बूले कृष्णभक्त-सङ्ग ॥
> (चै० च० म० २२।१४०)

यहाँ तक वैधी-भक्तिका विवेचन है। अब रागानुगा साधन भक्तिके विषयमें बतलाया जा रहा है।

> इष्टे स्वारसिकीरागः परमाविष्टता भवेत्।
> तन्मयी या भवेद्भक्तिः सात्र रागात्मिकोदिता ॥
> (भ० र० सि० पू० वि० २।३१)

इष्ट विषयमें जो स्वाभाविकी परम आविष्टता (अनुरक्ति) होती है उसे 'राग' कहते हैं। वैसे रागसे युक्त जो कृष्णकी भक्ति होती है, उसे 'रागात्मिका भक्ति' कहते हैं। उस रागात्मिका भक्तिके अनुगत भावको ही 'रागानुगा' भक्ति कहते हैं। जिस प्रकार शास्त्रके अनुशासनमें (विधि) के अधीन रह कर जो भक्ति होती है, उसे वैधी भक्ति कहते हैं, उसी प्रकार रागात्मिका भक्तिकी अनुगामिनी भक्तिको 'रागानुगा भक्ति' कहा जाता है। इन दोनोंमें से कोई भी साध्यभक्ति नहीं हैं; ये दोनों ही साधन

भक्ति हैं। रागात्मिका भक्ति दो प्रकारकी होती है—कामानुगा और सम्बन्धानुगा व्रजवासी और पुरवासी लोगोंकी भक्ति 'रागात्मिका' है। उनकी वैसी भक्तिको सुनकर या पढ़ कर जिसके हृदयमें वैसी ही भक्तिको प्राप्त करनेके लिये लोभ होता है, वे रागानुगा साधन भक्तिके अधिकारी हैं। जिस प्रकार शास्त्रीय-श्रद्धासे वैधी भक्तिका अधिकार प्राप्त होता है, उसी प्रकार रागात्मिक भक्तोंके भावसे प्रति लोभसे रागानुगा भक्तिमें अधिकार मिलता है।

(क्रमशः)

श्रीगौड़ीय वेदान्त चतुष्पाठी

बड़े आनन्दकी बात है कि थोड़े ही दिनोंमें श्रीगौड़ीय वेदान्त समिति द्वारा परिचालित "श्रीगौड़ीय वेदान्त चतुष्पाठी" श्रीधाम नवद्वीपके मुख्य-मुख्य संस्कृत पाठशालाओंमें से एक हो गयी है। प्रति वर्ष इस पाठशालासे छात्रगण बड़ी प्रतिष्ठाके साथ परीक्षाओंमें उत्तीर्ण हो रहे हैं।

इस वर्ष इस चतुष्पाठीसे निम्नलिखित विद्यार्थीगण संस्कृत परीक्षामें विशेष कृतित्वके साथ उत्तीर्ण हुए हैं—

(१) श्रीराघव चैतन्य ब्रह्मचारी—हरिनामृत व्याकरण उपाधि २ रे विभाग में।
(२) श्रीहरिचरण ब्रह्मचारी— " मध्य "
(३) श्रीहरिहर ब्रह्मचारी— " " "
(४) श्रीव्रजानन्द व्रजवासी— " आद्य १ ले विभाग में।
(५) श्रीकृष्णकृपा ब्रह्मचारी— " " २ रे विभाग में।

—प्रचार-सम्पादक